माटी से दूर

माटी से दूर

डॉ० पुष्पलता भट्ट



प्रवीण प्रकाशन
नई दिल्ली-110030

मूल्य : 45.00

प्रथम संस्करण : 1990

प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन
1/1079-ई, महरौली, नई दिल्ली-110030

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

MATI SE DOOR (Poems) by Dr Pushplata Bhatt Rs 45 00

विवाह की
बारहवीं वर्षगाँठ पर
प्रिय ईश को
भावों के मंजुल 'पुष्प'
समर्पित

दो शब्द

कविता लिखने का दभ मैं नही करती। पर जब भी भावनाएँ अस्वीकार कर देती है, हृदय की सीमाओं का बंधन, स्वयं वाणी पा जाती है मेरी लेखनी। यद्यपि सूरज के सम्मुख दीये का प्रकाश नगण्य है परन्तु उसकी जिजीविषा उसके भीतर भयंकर आँधियो मे भी, जलते रहने की उद्दाम लालसा जगाए रहती है। संघर्ष की इसी प्रेरणा से सबल पाकर साहित्य देवी के चरणों में भावनाओ के कुछ पुष्प अर्पित कर रही हूँ। आशा है, काव्य जगत मेरे इस बाल प्रयास पर मेरा उत्साह बढाएगा।

—डॉ० पुष्पलता भट्ट

क्रम

सूर्योदय की प्रतीक्षा

धूप
मेरे घर की
चौखट छूकर
हर रोज चली जाती है
घर······
अनछुआ-सा···
देखता रह जाता है
प्रतीक्षा में
फिर से
सूर्योदय की।

शहीदों की याद में

आजाद भारत के
झूमते तिरंगे को
जब भी देखती हूँ
और देखती हूँ
अपने देश में
सुरक्षा के घेरे, चारों ओर
अनायास ही याद
आ जाता है मुझे
बलिदान तुम्हारा
आजादी के लिए, मर मिटने वाले
अमर शहीदो।
पहनकर बसंती चोला
आँखों में सँजोए
आजादी बना सपना
क्या इसीलिए, चूमा था तुमने
फाँसी का फंदा ?
आजादी का उत्सव, मनाए
देश तुम्हारा,
संगीनों के साए तले।
प्राणों की बाती से
कण-कण को···
आलोकित करने वालो
जानती हूँ, बिखर रहे हैं
सपने, तुम्हारे आज
इस धरती की, माटी में।
निराश न होना
मत करना, अविश्वास

धरती, अब भी
वीर प्रसूता ही है।
फिर से जन्मेगा
कोई गांधी
कोई भगतसिंह, जरूर आएगा।
फिर से, चमकेगी तलवार
किसी झांसी की रानी की
अन्तर केवल, यह होगा
तुम लड़े थे, फिरंगियों से
उन्हें, घर के जयचन्दों से
लड़ना होगा।
मां भारती के
बलिदानी सपूतो
विश्वास दिलाता है कृतज्ञ राष्ट्र
तुम्हारी याद में, सिर्फ
मेले नहीं जुटाएँगे।
साहस है, अब भी हममें
समय की चुनौतियों से
लड़ने का।
लड़ेंगे, लड़ते जाएँगे
करके साकार सपना
तुम्हारी, टूटती साँसों का
धरा पर, फिर से
स्वर्ग लाएँगे।

खण्डहर की पीड़ा

एक ओर थी,
खण्डहर की वीरानी।
दूसरी ओर
यौवन के मद में
इठलाती,
गगनचुम्बी इमारत का
अट्टहास।
कोई परवाह नहीं थी उसे
कि आँखों का, सूनापन समेटे
कोई जर्जर देह
निपट अकेली
लालसाभरी निगाहों से
निहार रही है, उसे
अपने रेगिस्तानी क्षणों को,
लहलहाने के लिए।
भविष्य से अनजान
मदहोश, नशे मे चूर
उसकी निगाहें
छूना चाहती थीं सिर्फ,
आकाश को।
वेदना से···
चीत्कार कर उठा
खण्डहर का उपेक्षित मन।
मत भूल, नादान
इमारत,
मैंने भी जीया है, एक
भरपूर जीवन।

मेरे आँगन में गूँजती
पायल की झंकार
आज भी रमी है
मेरे रोम-रोम में।
सावन के झूलों से
खेलती, रिमझिम में भीगी
धरती की साँसों की,
भीनी-भीनी महक
आज भी
मदहोश कर देती है, मुझे।
पनघट की राहों में
मचलती, खिलखिलाती
रतनार तरुणाई का खुमार
आज भी, समेट लेता है
मेरे आँसू
मैं तो बिता लूँगा
अपना, हर पल
इन मीठी यादों के सहारे।
भविष्य से अनजान
नादान इमारत
मुझे दुख है, तो केवल तेरा
तेरा तो यौवन ही
अभिशप्त हो गया है।
वासंती बहारों की जगह
भोगा है तूने
नफरतों का जहर।
खण्डहर की पीड़ा
तू कैसे ढोएगी ?
तेरे सामने भी होगी
जब कोई अट्टालिका
उपेक्षा लिये आँखों में।
उसकी उपहास-भरी
नजरों से बचकर
अपने आप में भी

नही सिमट पाएगी।
अपने वर्तमान की तरह
जब तू
बीते कल को भी
खोखला पाएगी।
जीने के लिए
जिस समय
मीठी यादो का, सहारा भी
नही ले पाएगी।
नादान इमारत,
उसी दिन, तू मेरी
पीड़ा जान पाएगी।

बौना होता आदमी

मेरे शहर मे,
भवनो की—
ऊँचाइयाँ
बढती हैं, जिस
रफ्तार से
उतनी ही, तेजी मे
बौना
हो रहा है,
आदमी।
हादसो के
इस शहर मे,
निर्विकल्प, भीड़ का
हिस्सा बन
उन्माद की,
काली परछाईं मे
सिमट रहा है
आदमी।

अहसास

झरना बन चाहा
जब भी, मैंने
बहना…
लडकर सारे
विघ्नों से, टकराई
जब भी, मैं
चट्टानों से…
मुझे बांध दिया गया
किनारों की, सीमा में।
पिंजरे से निकल
चाह हुई, जब भी
उन्मुक्त हो उड़ने की…
ताकि, नाप सकूं
मैं भी,
नभ की ऊँचाई।
सहसा !
अहसास हुआ मुझे,
पंखों के,
काटे जाने का।
आह ! रे नियति
मेरी चाह, मेरी आकांक्षा
कैदी है
बन्द पक्षी की तरह
सीकचों के भीतर।
कैसा समाज
मिला है, मुझे
शरीर तो दूर…

मेरी मानसिकता भी
अधिकार से
बाहर है मेरे,
खोखले रिवाजों के
पहरे में कैद।
बंधक पड़े
खेत की तरह
अपनी ही फसल
काटने में
असमर्थ
मेरा 'मैं'
चुपचाप झेलता हूँ
लुटे खलिहानों की
वीरान सिसकियों को।

बन्द वातायन

लाख चाहती हूँ
खोल दूँ
रोशनदान और खिडकियाँ
कमरे की।
चीर डालूँ, अन्धकार के
उस वातावरण को
जो लील रहा है,
हम सबको।
पर सच्चाई व असलियत से
भागता, कायर मन
एक आवरण
चढ़ा लेना चाहता है
स्वयं पर।
अँधेरे में,
भटकने की, आदत
बन गई है, कुछ ऐसी
धूप व चाँदनी में
चौंधिया उठती हैं/आँखें हमारी।
बाहर की—ताजी हवा
सहने में
असमर्थ, हूँ मैं
इसीलिए, पाटकर
सारे सुराख
जो देते हैं,
रोशनी···
सिमटकर, रह जाती हूँ
गोदी में/अँधेरे की।

संघर्ष की प्रेरणा

दूर किसी घर की
खिड़की से
जुगनू की तरह
टिमटिमाती, दिए की लौ
बल्बो के चौंधियाए/प्रकाश से
कही अधिक प्रेरणा
देती, मन को
क्यों होता है ऐसा
अक्सर, सोचा करती हूँ मैं
शक्ति है, बिजली की
बल्बो के पास/दबाते ही बटन
जल उठते हैं
बिना प्रयास
इसके विपरीत
हर साँस के साथ
हवा के झोको से
लड़ती, दिए की लौ
करती है संघर्ष
आलोकित करने
किसी और के जीवन को।
अन्तिम क्षण तक
नही छोड़ती है दामन
आशा का
इसीलिए, उसकी टिमटिमाहट
कही अधिक शक्ति
देती है मुझे
बिजली के चौंधियाए प्रकाश से।

निराशा के क्षण

हर ओर
एक सुनहला सूरज
उगा जाती है मेरे भीतर
पर रात, चुपके से
चुरा लेती है
उसका रग
और मैं,
भटकने लगती हूँ
अंधकार के—
बीहड़ जंगलो मे।

अग्नि परीक्षा

अन्याय सहकर
राम के मर्मो···
कैसी परम्परा
डाल दी तुमने, सीता ? ·
एक वर्ष रावण के
चगुल मे, विताकर भी
सती थी तुम।
देवता होकर भी
विश्वास
कर सके थे
राम तुम्हारा ?
देनी पड़ी थी तुम्हें
अग्नि परीक्षा,
अपने सतीत्व को
बनाए रखने के लिए।
आहत हुआ था,
मान तुम्हारा।
परन्तु, पुरुष का अहं
तृप्त न हो पाया था
केवल इतने से,
दे डाला था, उसने तुम्हें
फिर से, वनवास
धोखे में रख।
जब अपेक्षा थी
पति के प्यार, सास के
दुलार की तुम्हें
छोड़ दिया था

भटकने के लिए
कँटीली राहो में निराश्रित
उसी सीता को
चौदह वर्ष भोगी थी
जिसने, केवल राम की पीड़ा
रामराज्य का
अमरत्व पाने ··
बलि चढा दी थी,
तुम्हारे सुखों की।
काश ! तुम सजग होती
अपने अधिकारो के प्रति
तो सघर्ष
न करना पड़ता
अपने अस्तित्व को
बनाए रखने के लिए
हमे आज।
मैं मानती हूँ, तुम देवी थी
आदर्श स्थापित
करना था, तुम्हे
मानव के लिए।
शायद तुम भी
नही जानती थी—
एक समय, वह भी आएगा।
मानव का विश्वास,
मानवता से ही, उठ जाएगा।
रामराज्य ही, जब
सपना बन जाएगा
तब स्नेहिल आश्रय
देने वाले वाल्मीकि
कहाँ से आएँगे ?
गंगा की पावनता को
गंदला करने वाले
हजारो तपस्वी मिल जाएँगे
जो तेरे लाडले लव-कुश को

चक्रवर्ती सम्राट की जगह
चोरी, डकैती, आतंकवाद की
शिक्षा दिलवाएँगे।
देने से पहले अग्नि परीक्ष
यह तो सोचा होता
कल यह परिपाटी
बन जाएगी।
समय वह भी आएगा, जब
मायावी अग्नि,
नहीं बन पाएगी।
और, अग्नि परीक्षा
के नाम पर रोज
घर-घर में···
सीताएँ जलाई जाएँगी।

लोकतंत्र

राजनैतिक
दाँव-पेंच मे
पिसता
कुर्सी व सत्ता की
आपाधापी मे, वेवस
कुचक्रों के, जाल में
घायल—
कबूतर-सा
फडफड़ा रहा है
आज
लोकतत्र ।

आँचल की लाज

आकर गैरों के
बहकावे में
एक बार, पहले भी
मेरी सोने की
चिड़िया के पंख
नोच डाले थे, तूने
ओ ! निष्ठुर
जयचन्द ।
बदले में क्या पाया था ?
अपमान और कलंक के सिवा
गद्दारी विश्वासघात के साथ
जुड़ गया था
नाम तुम्हारा इतिहास के
काले पृष्ठों पर
हमेशा-हमेशा के लिए ।
आज, फिर से
वही आँखें, जो
छीन लेना चाहती हैं
विश्व की शान्ति
लगी हैं,
हमारे देश पर ।
ढूँढ़ रही हैं
नए जयचन्द,
हमारे बीच से
ताकि फिर से,
तार-तार कर सकें
माँ का आँचल
जयचन्द ।

इतना दोषी, नही है
मेरी, नजरो में।
गुलामी का, अभिशाप
उसने, झेला ही
कब था
तुम तो, भुगत चुके हो
इस पीडा को।
जानते हो—
अपने, स्वार्थों की
तिजोरी, भरने वाले
राक्षसी पजे, केवल
मोहरा, बना रहे हैं
तुम्हें।
उसके बाद—
फेंक दिए जाओगे
दूध में पड़ी
मक्खी की तरह
या
तुम्हारे ही,
पिस्तौल की गोली
दाग दी जाएगी, सीने में
तुम्हारे ही।
फिर!
किस लालच मे फँस
दाँव पर, लगा रहे हो
भारत की, स्वर्णिम
सस्कृति को।
हाय, तुम्हारे, तब भी
कुछ नही आया था
हाय! अब भी
कुछ नही आएगा।
बस! मेरा देश
एक बार फिर,
गैरो के,

हाथों में, चला जाएगा।
भूलकर—
विदेशी सिक्कों की खनक
उठो ! आश्वस्त करो
असहाय माँ को।
कह दो, जब भी
कोई जयचन्द, सिर उठाएगा
कोई न कोई लाल
पृथ्वी प्रताप और
पोरस बन जाएगा।
बहाकर, खून की
एक-एक बूंद
माँ के आँचल की
लाज बचाएगा।

मुट्ठी-भर राख

भीड भरी
इस महानगरी में
हर रोज, सहती हूँ
श्मशान की खामोशी
खामोशी।
विषमताओं से
जूझते
तिल-तिलकर
जलते
संस्कार और धर्म का
कफन ओढे
जिन्दा लाशें, घूम रही हैं
मेरे, चारों ओर।
जिनके उच्छ्वासों का धुआँ
निगल रहा है
पूरे विश्व को,
फैलाकर, अपना मुंह,
सुरसा की तरह।
स्वप्नों का महल
सजाने के लिए,
जला डाली है,
कितनी
झोपड़ियाँ हमने
दे डाली है सौगात
बुढ़ापे की, असमय ही
मासूम बचपन को
अपने ही सुखों

के अपेक्षी
मन ने।
पर…
हाथ आती है
अंत में, केवल
मुट्ठी-भर राख।

तब और अब

कुछ दिन पहले
देखा था—उस नेता को
चिलचिलाती लू में
पैदल चलते।
पसीने से लथपथ, भयभीत
मजदूर के चीथडों को
करके अनदेखा
गले लगाया था उसे।
रख दिए थे चन्द सिक्के
उसके बच्चे की ठंडी,
हथेली पर, उस दिन—
उस नेता ने।
आज मैंने देखा
एक जलूस के आगे
मालाओं और बोझ से लदे
जनता पर अपनी मुस्कानें, लुटाते
उसी नेता को।
सहसा ! वही मजदूर आगे आया।
"मेरे दुःख के दिन बीते हुजूर"
कह—नेता को आज—
उसने, गले लगाया।
नेता जी की आँखों से
बरसने लगे अंगारे।
"कौन है यह असभ्य"
बड़े-छोटे का
नालों में रेंगने वाला कीड़ा
आसमान छूने के

सपने देखता है।
इतना सुनते ही एक
पुलिस वाला आगे आया
देकर धक्का गरीब को,
उसने, वर्दी का सम्मान बढ़ाया
मजदूर का जर्जर शरीर
पटरी से
जा टकराया।
उसकी रगों में दौड़ता खून
आक्रोश में उफनता
सड़क पर निकल आया।
'नेताजी जिन्दाबाद' के नारे से
आकाश गूँज रहा था।
पास खड़ा मजदूर का,
मासूम बेटा, यह देख रहा था
कल व आज के अन्तर को
अपनी बुद्धि में सहेज रहा था
मर्माहत मजदूर की आँखों में
सैलाब उतर आया।
काँपती आवाज में,
उसने, नादान बेटे को
समझाया।
हर चुनाव से पहले
मेरी चेतना—
करती है प्रयास जागने का।
पर पेट की आग के सामने
सदैव हार जाती है।
यही कारण है—मेरे बेटे
पाँच साल बाद
नेताजी, आते हैं
जीतकर चले जाते हैं
परन्तु हमारे, भूखे स्वप्न
हर बार छले जाते हैं
बार-बार छले जाते हैं।

अभिलाषा

उभरता 'स्वर' यदि मैं
आज हूँ—
तो उभरती जाऊँगी
मैं इस तरह
लिखना पड़ेगा
नाम मेरा, कल तुम्हें
सुनहरी अक्षरों में
समय के पृष्ठ पर
सितारे की तरह
मैं भी चमकना चाहती हूँ
एक दिन—
साहित्य के आकाश में।

अपकर्ष

आज उत्कर्ष की
चोटी पर खड़े
हर शक्ति को
बन्दी बनाने की
होड़ में,
कठपुतली की तरह
नचा रहे हैं,
सृष्टि को।
फिर ··
कैसा भय है
हमारी आँखों मे ?
हर पल
अनिष्ट की, आशंका के
घेरे में कैद
भाग रहे हैं ··
अपनी ही परछाईं से
अविश्वास, द्वेष की
काली रेखाएँ
खिंच गई हैं
मनों में, हमारे
आग, तोड़फोड़,
नृशंस हत्या में
डूबे लोग
धरकर, अपकर्ष की पराकाष्ठा
धरती को
कर रहे है लाल
बहकार, खून को
पानी की तरह

अनमोल सुख

महानगरी के, एक
छोटे से, कमरे में
चलना, सिखा रही थी
नन्ही-सी, बिटिया को।
उसके कदमों का लड़खड़ाना
गिरना-उठना और
सँभलना देख
मन !
समय की सीवनें
उधेड़कर, पहुँच गया
बहुत पीछे, जहाँ
बिटिया में मुझे, मैं
और मुझ में, दिखलाई
देने लगी, मेरी माँ।
माँ तुम्ही से, सुना है मैंने
मेरा जन्म—
मोहताज नहीं था, किसी
लेबररूम के, दायरे का
उसने तो खोली थी
आँखें, सौन्दर्य मंडित
हिमालय के
प्रांगण में।
पर, मातृत्व का
जो अमृत, पीया है मैंने
इस छोटे से, कमरे में
घर-जमीन-मवेशियों के
बीच खटती

श्रम की, जीवन्त
मूर्ति, बनी
भूल चुकी थीं, तुम माँ
बहन, बेटी और पत्नी के रूप को
टूटी आकांक्षाओं
विरह के दर्द को
समेटे
बनकर रह गई थी,
एक मशीन।
इसीलिए
देख नहीं पायी थीं
मेरे कदमों का,
लड़खड़ाना।
दौड़ लगाते देख, मुझे
आँगन में, एक दिन
सहसा !
चौंक पड़ी थी तुम।
महानता व त्याग के
बीच, झूलती
माँ-बेटी के रिश्ते का
अनमोल सुख
भोगने में तो—
वंचित ही, रह गई थी ना
तुम्हारी ममता।
तुमसा बनना चाहकर भी
भागती हूँ तुम्हारे इस
त्याग से आज।
सब कुछ भुलाकर
सिमट जाती है
अपनी बेटी की, नन्ही-सी
डगमगाती दुनिया में।

'महाप्राण' निराला

प्रकृति को
सांसो मे बसा,
पोर-पोर
करुणा मे पगा,
संवेदनाओं को
क्षत-विक्षत, करती
गुलाबीय, संस्कृति को
नकारा था
तुमने।
महाक्रान्ति का
शंख, फूंकने वाले
महाप्राण—
तुम नही जानते थे ?
पौरुष जब, टूटता है
वेदना—
जब होती है,
शब्द से घनी।
भीतर की आग
झुलसाने लगती है,
अपना ही, अन्तर, जन
तो चेतना
स्वकेन्द्रित हो
खटखटा, उठती है
अनासक्ति का द्वार
और, समाज !
उतार देता है
गले मे, गरल

उपेक्षा/विक्षिप्तता का।
सरस्वती को—
जिह्वा पर,
नचाने वाले, अमर
साधक।
कौन कहता है?
लिखी थीं, तुमने
कविता।
तुमने तो, जिया था
उसे,
शब्द-शब्द।
स्वीकार कर, समय की
चुनौती,
बन गए थे, तुम
'निराला'।

से

जिन्दगी

जिन्दगी को जानना, चाहा है
समीप से, जब-जब मैंने।
इसने केवल, उलझाया है।
बदलते मौसम की तरह
हर पल—इसे भी,
बदलते पाया है।
जीवन के, लहलहाते क्षणों की
गुदगुदाहट में, यह
सुख का पर्याय
बन जाती है।
विपत्तियों की, बरसती आग में
काँटे की, चुभन-सी
सताती है।
जब भी खिलती है, कोई
कली हमारे आँगन में
फूलों की सुगन्ध बन
यह स्वयं—
महक जाती है।
घोड़ी में बैठे दूल्हे
शहनाई की गूंज में
थिरकते पाँव
डोली में बैठी
दुलहनियों का, स्पंदित मन
जिन्दगी को, एक
गीत बना देता है।
अब भी देखा है
चार काँधों पर जाते
किसी अर्थी को—

जिन्दगी का अर्थ
कबीर के दोहे में
सिमट जाता है।
"मनुष्य तो पानी का बुलबुला है।"
बुलबुले के बनने
व मिटने का नाम ही
जिन्दगी है।

अंतहीन तृष्णा

पैसा !
जिसका अस्तित्व
बौना था, कभी
इंसानी मूल्यों के समक्ष
मानवीय धरातल, के नीचे
दबा-सहमा जीता था
साधन बनकर।
पैसे से खेलता-खेलता, मानव
स्वयं बन बैठा, खिलौना
एक दिन।
नाचने लगा कठपुतली
की तरह, उसके
इशारो पर।
संबंधो को तोडते
रिश्तो को नकारते
पाँवो तले दबी—
दम तोडती, मानवता की
कराह को, अनसुना कर
दौड रहा है, बेतहाशा
दौलत की मारीचिका के पीछे
एक अंतहीन
तृष्णा को झेलते।

कैक्टस

जुड़ने की चाह में
बार-बार
टूटन की पीड़ा
भीतर के, रीतेपन को
भरने का,
नाकाम प्रयत्न !
सच !
मेरी बगिया मे
कैक्टस
उग आया है।

जड़ों से टूटते

अपनी सस्कृति की
जडो से टूटते
आधुनिक होते
माता-पिता की
अंधी दौड मे,
भटकता—बचपन।
सुकुमार कंधों पर
किताबों का—
बोझा लादे
रोशनी से दूर, लडखड़ाता
निढाल—बचपन
'महानगरीय'
सभ्यता का
गरल पीते
अपनी ही, नजरो मे
बौने होते, संरक्षकों के
संत्रास को,
झेलता—बचपन।
जब, लाँघकर
बचपन की चौखट
जवानी की, दहलीज पर
रखेगा कदम।
आँखों मे आक्रोश
चेहरे पर घृणा
हाथों में, हथियार के सिवाय
कुछ न होगा।

मान भी जाओ सूरज

सूरज।
आज पहली बार
तुम्हारा निकलना
आहत, कर गया है
जैसे ही, छूएँगी
तुम्हारी किरणें
धरती की देह।
इस देहरी को
पराया कर
जाना पड़ेगा, मुझे।
निरीह गाय-सी
ममता को, कलपते
पिता की, आँखों में
सिमट आए, सैलाब को।
अनदेखा कर
नन्हे भाई की
पनीली अँखियों का
आग्रह ठुकराते
मेरे मजबूर कदम
बढ़ते चले जाएँगे
एक, अनजान डगर पर।
जो, न जाने
किस मंजिल पर
पहुँचाएगी।
पता नही
रुपहली चाँदनी
सँवारेगी राह, अथवा

अँधेरी वीथियो में
भटक, अपने
अरमानों का शव
ढोना पड़ेगा मुझे।
कहीं ऐसा तो नहीं ?
वर्षों से सँजोए
सिन्दूरी सपने
पिता का ऋण
उतरने मे, पहले ही
मजबूर हो, सो जाएँ
दहकती, लपटों के
आगोश मे।
यदि ऐसा है…
तो, मान जाओ
मान भी जाओ
सूरज !
मत उठाओ, घूंघट
आज की, रात का
टाल दो मेरे
चिरप्रतीक्षित क्षण को।

गुदड़ी में लाल

बड़ा होने के लिए
जरूरी नहीं
बड़े पिता का
बेटा होना।
सिद्ध किया था, तुमने
गुदड़ी में भी
लेते हैं जन्म
लाल, कभी-कभी।
पाने के लिए
निष्ठा व सम्मान
कौन कहता है ?
जीओ वर्षों।
सिद्ध किया था, तुमने
कर्म का, एक
क्षण ही
बना देता है
अमर—
कभी-कभी।

आँसुओं के शिलालेख

जब भी
सराहे हैं
मेरे गीत
तुमने ।
और भी, कसका है
मेरा अन्तर
रीझे हो
जिन पर तुम
केवल, शब्दो का
खिलवाड नही हैं—
शिलालेख है
मेरे आँसुओ के ।
वेदना को, समेटने में
विफल हृदय
छलक उठता है,
गीत बनकर मेरे भीतर से
अनवरत, अनछुई
पीड़ा को—
सहलाता हुआ ।

विडम्बना

लो आज फिर से
लाल हो गईं
मंदिर की सीढ़ियां
शायद, किसी मां ने
कर दिया है प्रसन्न
मां काली को
बीमार शिशु की
मंगल कामना के लिए
टूट पड़े है, भूखे भेड़िये की तरह
मंदिर के पुजारी
बलि दिए बकरे के
कोमल मांस पर
कर रहे है शांत
भीतर की, राक्षसी को
समझकर, अहोभाग्य
बीमार बच्चे की मां ने
नवाया है, सिर
बड़ी श्रद्धा से
मंदिर के रक्तरंजित
द्वार पर।
पर······
उस मां की आस्था को
क्या कहें, जो उठ गई है
उस, भगवान से
हमेशा-हमेशा के लिए
जिसके द्वार पर
घोटा गया है गला

उसकी ममता का
हाय ! रे विडम्बना
किसी पुत्र के कल्याण के लिए
एक माँ माँगती है, रक्त
किसी माँ के लाडले का।
धकेल कर,
अंधविश्वासो के कुएँ मे
निरीह, ममता का
खून करने वाले
भूखे परिन्दे
भूल जाते है
माँ-माँ मे कोई
अन्तर नही होता
इन्सान हो या जानवर
अपने रक्त को, अमृत में ढाल
पिलाती है, माँ।
बजाकर धर्म की दुंदुभी
उपहास उडाया है,
ममता का सरेआम।
लेकर नाम माँ काली का
बार-बार की, है लाल,
मदिर की सीढियाँ।

इंसान कहलाएँ

धर्म की नींव पर
सभ्यता की इमारत
खड़ी करने वाले
इंसानियत के लुटेरे
खेल कर, मासूम
भावनाओं से
व्यापार बढ़ा रहे, अपना
लेकर नाम—
मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों का।
मजहबों को जलूसों में ढाल,
राम-रहीम—नानक को—
चौराहों में घसीटने वाले
धर्म के ठेकेदारो, तुम
क्यों नहीं समझते
धर्म सिर्फ आस्था है,
ठोस धरातल नहीं
जो, दे पाए, सस्कृति को
एक, मजबूत पकड़।
काट कर जड़ें,
तराश कर तने
क्यो बना रहे हो
बोंजाई, मानव को,
धर्म की प्लेटों मे
समेटकर।
क्या ! तुम नहीं जानते
जब-जब, धर्म के नाम पर
गली-मुहल्ले, शहर

बाँटे जाएँगे,
नरसंहार के खूनी
इतिहास तब-तब
तरह-तरह से
लिखे जाएँगे।
मुक्तसर—लालडू हिसार के
हृदय विदारक, हादसे
रूप बदल-बदलकर, हमारे
दिलों को, दहलाएँगे।
आतंक के साए में, घूमता
मासूम बचपन, अंधकार के
भविष्य में डूब जाएगा।
आजाद, सुभाष, भगतसिंह
गुरुगोबिन्द की, कुर्बानी
व्यर्थ चली जाएगी।
उनके सपनों के
भारत की, माटी जब
धर्म के नाम पर—
बाँटी जाएगी।
तोड़कर धर्म सम्प्रदाय,
भाषा की, दीवारें,
निर्माण करें, एक ऐसे
समाज का—
जहाँ, उतार कर
हिन्दु-मुस्लिम सिक्ख-
ईसाई का चोला, हम
केवल, इंसान कहलाएँ।

माटी से दूर

गाँव की,
ठडी बयार।
माटी की,
सौंधी, सौंधी
गंध से दूर
पत्थरो के इस
शहर में
तलाश, जारी है
एक सेतु की
जो
पाटकर
गाँव व शहर के,
फासले
मुझे, मेरी
खोई गंध
लौटा दे।

यंत्रणा

श्रद्धा व पूजा के
योग्य है नारी
सुना था पुरखो से
पढा था पुराणो मे।
घर की, चारदीवारी के भीतर
कुछ क्षण के लिए
यही अहसास, हुआ था
मुझे भी।
नारीत्व के रूप में
पाया था मैंने
प्यार, सम्मान व गरिमा
यह क्या—
लाँघते ही, घर की
देहरी, पंख कटे
कबूतर की तरह
आहत हो—
छटपटा, उठता है
मेरा मन
लोलुप दृष्टियो मे
छुपे, वासना के अंगारों से
झुलस उठता है,
समूचा वदन।
छलनी-छलनी
हो उठती है आत्मा।
न जाने कहाँ?
खो जाता है, मेरा
वह रूप, जो सम्मानित था

घर के भीतर
निकलते हो, बाहर
घर में, रह जाती हूँ
मैं, सिर्फ एक औरत
निरवस्त्र, कर देना
चाहता है, जिसे
हर व्यक्ति
अपनी आँखों में
भेड़िए के पंजे में
छटपटाते, मेमने की तरह
आहत हो उठता है
मन, हर बार
हर बार।

शंखनाद

एक द्रौपदी का
चीर हरण हुआ
तुम दौड़े-दौड़े आए
उसकी
लाज ढाँपने।
आज—
सैकड़ो द्रौपदियाँ
लगी है
दाँव पर
और, तुम
मौन लेटे हो
क्षीरसागर मे।
लगता है
मायने, बदल गए हैं
तुम्हारी आस्थाओ के।
तिजोरी मे कैद,
लक्ष्मी की
चकाचौंध मे, कुंठित
तुम्हारी, बुद्धि
भूल चुकी है
धर्म व अधर्म के
अन्तर को।
या फिर
आज ही की भाँति
वर्षों पहले
तुमने भी
रोपा था,

भतीजे वाद का ही,
पौधा।
चीख-चीख कर
कहती हूँ मैं
मर्यादा की रक्षा का,
ढोल पीटने वाले
कृष्ण—
तुमने किसी
अबला की नहीं
लाज बचाई थी
कृष्णा की—
जो कुंती के, पुत्रों की
वधू भी थी।
यदि यह
सच नहीं है, तो
आओ
फिर से खोजो
पार्थ को—
कुंती का पुत्र—भले ही
न मिल पाए,
दुबारा तुम्हें।
धरती-आकाश को
गांडीव की टंकार से
कँपा देने वाले, सैंकड़ों
अर्जुन, आज भी
खड़े हैं, प्रतीक्षा में,
तुम्हारे
शंखनाद की।
आओ कृष्ण
इससे पहले, कि
तुम्हारे प्रति, मेरी
सारी आस्थाएँ
चूर-चूर हो जाएँ
गुंजा दो निनाद

पृथ्वी में, अपने
पाँचजन्य का।
एक वार, फिर से
वनाओ विजयी
कुरुक्षेत्र में
धर्म को।

नया सूर्य उगाएँ

गीतों की
टूटी हुई
कड़ियों को जोड़
मीत मेरे, फिर से
नया गीत, लिखें हम।
माना, कि रोकती है
राह—
पतझड़ी हवा
रुकता नहीं
रोके से, कभी
वासंती मौसम।
मेघाच्छिद
अम्बर हो, या
गहराती रात।
प्रेम के क्षितिज पर
नया सूर्य उगा
दें निमंत्रण
फिर प्रभात को।

एकान्त

आडम्बर रहित
नितान्त अपना
शब्दों के
भ्रमजाल से परे
अपने भीतर—
गहराई तक झाँक
देता है, अवसर
आत्मविश्लेषण का ।
मुझे,
मेरा एकान्त ।

छटपटाती प्रीत

अनचाहे बन्धन में
छटपटाती प्रीत को
ढोता···
मृगतृष्णा के रेगिस्तान में,
भटकता मन—
ज्येष्ठ की तपती
दुपहरी-सा···
संतप्त हो उठता है।
स्वाति की, एक
बूंद का प्यासा, हृदय
नेह के, नीर-भरे
मेघों से,
करता है मनुहार।
परन्तु, बरसने से पूर्व
न जाने कैसा
प्रश्नचिह्न लग जाता है
पागल चातक—एक बार
फिर—
प्यासा रह जाता है
अनचाहे बन्धन में
छटपटाती—
प्रीत को ढोता।

विरासत

हर रोज
अपने अस्तित्व को
भीतर समेटे
कंधे पर बैग
लटकाए
निकल पड़ती हूँ
घर से।
हर चाहत
कर देती हूँ
दफन
वर्मों, फाइलों, सरकारी—
पत्रों के बीच।
माता-पिता से, पाए
संस्कार—
जो, विरासत है
मेरी।
सौंप नहीं पाती,
अपने बेटे को।
ऋणी है आया की
जो, सार्थकता देती है, मेरी
ममता को।
नए आयामों में
परिभाषित
मेरा मातृत्व
देखता रहता है
मुन्ने में ढलते
आया के संस्कार।

भटकाव के क्षण

मंजिल पर
पहुँचने की धुन
खींच ले जाती है
कँटीली राहों में।
चलते-चलते
थका—
आकुल—
सड़क की लम्बाई
मापने में, असमर्थ
मन।
हर मोड़ पर
पाता है, आभास
मंजिल की
नजदीकी का।
समीप पहुँच, जब भी
करना चाहा है
कैद, सफलता को
मुट्ठी में।
भ्रम टूट जाता है।
जिसे मंजिल समझा था
वह तो, मारीचिका थी
मंजिल, अब भी
उतनी ही, दूरी पर है
जितनी, यात्रा
शुरू करने पर थी।

नया राग

भोग्या बनते-बनते
टूटे तन व मन ने
किया विद्रोह, तो
पूज्या बनाकर
कर दिया, आसीन
देवी के सिंहासन पर।
इस तरह, समाज की
प्रवचनाओं के हाथों
एक बार, फिर से
छली गई मैं।
भोग या देवत्व
दोनों की तुला में
तुलने के लिए
जरूरी था, मेरे लिए
रिसते घावों की
पीडा को,
मुस्कान के साथ
झेलने की, क्षमता बटोरना।
घुट्टी की तरह
दूध के साथ
सहनशीलता का,
यही मंत्र, पिलाया है
मेरी माँ ने मुझे।
उसकी थपकी, उसकी लोरी में
सुनी है, यही धुन।
बार-बार मैंने।
लो आज, तोडती हूँ

सारे बंधन···
दूध का अर्थ,
लोरी की तान, बदलकर
देती हूँ, नया राग
अपनी बेटी को।
देवी व भोग्या के बदले
जो देगा, उसे
एक नई पहचान
एक नया व्यक्तित्व
जो उसका अपना होगा

अभिशप्त बरगद

धरती के हृदय में
गहरे पैठ
हिमालयी मजबूती पर
इठलाने वाला
बरगद।
युकिलिप्टिसी जमाने की
अंधी दौड़ में
टूटने—
अस्तित्वहीन, होने का
अभिशाप
भोग रहा है।

नकाब हर चेहरे

मेरे घर के सामने
पार्क में
खेलता
एक नन्हा शिशु
हर रोज—
छोड़ जाता है, अपनी
निश्छल छाप
मेरे मन पर
इन्द्रधनुषी
रंगों को, समेटे
चिड़ियों के पीछे
भागता शैशव, जैसे
पंख लगा
उड़ना चाहता है।
अपने पराये से
बेखबर—
उसकी किलकारी में
समा जाता है
सम्पूर्ण ब्रह्मांड।
उसके,
लड़खड़ाते, कदमों का
पीछा करतीं,
मेरी आंखें
कुछ क्षणों के लिए
ले जाती है, मुझे
उसकी, नन्ही-सी
दुनिया में।

कितनी देर······
भुलावा दूँ, अपने को?
मेरा अहं,
मेरी चेतना को—
झकझोर कर, जगा देता है
लौट आती हूँ, मैं
फिर से—
उसी दुनिया में, जिसमें
हर चेहरा,
ओढ़े है, नकाब।
इस दुनिया का,
यही भोला बच्चा
ज्यों-ज्यों पार करेगा
उम्र के गलियारे।
इसकी दूधिया मुस्कान में
घुल जाएगी
संसार की, कलुषता।
चढ़ाकर चेहरे पर
नकाब, यह भी
बन जाएगा
कपट का
हिस्सेदार।

सुबह का अखबार

रक्त सनी
इबारत लेकर
आता है, अखबार
हर सुबह ।
छोड़ जाता है
दर्दनाक चीखें
भोर की
ताजी-ठण्डी, हवा मे ।
रात हुई
निर्मम, हत्याओ की
दारुण कथा
घोलकर, चाय की
प्याली मे
पिला जाता है,
सुबह का अखबार ।

जनमन की जाह्नवी

वर्षों से
जोह रही हैं बाट
मेरी सूनी निगाहें,
अपने गुमराह बच्चों की
वापसी की।
जो बहुत दूर, दूर
निकल गए है मुझसे
अंग्रेजी का दामन
थामे हुए।

लहराते तिरंगे के साथ
सँजोए थे जो
सपने मैंने,
टूटे कांच से
बिखर गये हैं, अचानक।
जिन्हे समेटते-समेटते
थक गए है,
लहूलुहान मेरे हाथ।

मेरे रिसते घावों को
करके अनदेखा
तड़पते रहे मेरे बच्चे,
अंग्रजियत की प्यास में।
भूल गए
आजाद भारत का सपना
देखा था एक दिन
सबने, मेरी आँखों से।

जहाँ अपनी ही भाषा थी,
आशा की अगणित
कोपलें फूटी थीं
मेरे अरमानों की, धरती से,
उस दिन।
समेट कर सबको
अपने आँचल में,
'जनमन की जाह्नवी'
बन गई थी मैं।

आजादी तो मिली
पर मन तो गिरवी था
अब भी,
उसी संस्कृति के पास
जिसको झेला था,
वर्षों हमने।
उसी आकर्षण में खोए
वंचित कर बैठे तुम,
मुझे मेरे सम्मान से।

थक गई हूँ
पर टूटी नहीं हूँ मेरे बच्चो।
जानती हूँ
दिन-भर भटकने के बाद
साँझ होते ही
याद आता है, पक्षी को
अपना नीड़।
नीड़, जो अपनेपन का,
अहसास दिलाता है।

प्रतीक्षा है, मुझे भी
उसी घड़ी की!
जब होगा मोहभंग
और पुकारोगे मुझे।

तब पास खड़ी मैं,
थाम लूंगी उँगली तुम्हारी।
उस दिन गूंजेगा सगीत
मेरी सांसों का,
भारत और भारती का
इस धरती के कण-कण मे।

उस दिन, हाँ, उसी दिन
सार्थक होगा जीवन मेरा।

पीर

प्रवासी प्रिय की
यादों में खोई
हिमालय के
सौन्दर्य में पगी,
ओ भोली वधूटी
कैसे ! सह लेती है
शान्त रहकर
हर पीर।
हँसी व उल्लास के
अवसरों पर
श्रम के, भार को
ढोता, तेरा
विरही मन, जब
छटपटा उठता है।
अनायास ही,
सजल हो जाते हैं
तेरे नयन।
तब भी, तू
नही रह पाती
निष्क्रिय।
और तेज
घूमने लगते हैं
चक्की पर
तेरे हाथ।
आँखो में
तिनका, जाने का

वहाना कर
पी जाती है
व्यथा का
हर कड़वा घूंट
चुपचाप, किस तरह।

□□



डा० पुष्पलता भट्ट

जन्म-स्थान : पाली, जिला अल्मोड़ा (उत्तर प्रदेश)।
दिनांक 23 अप्रैल, 1956।

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी०।

प्रकाशित पुस्तकें : 1. कुमाउँनी लोककथाओं में जनजीवन।
2. कुमाउँनी लोक कथाओं का लोक-तात्विक अध्ययन।
3. कुमाऊँ की प्रमुख लोक कथाएँ।
4. प्रशासनिक हिन्दी।
5. सरकारी कामकाज में हिन्दी।
6. हम विकलांग क्यों।
7. महान राजनैतिक महिलाएँ।

अध्यापन कार्य : 1. केन्द्रीय हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान।
2. हिन्दी विभाग, श्री अरविन्दो कालेज।

विविध : 1. राष्ट्रीय स्तर के कवि सम्मेलनो, संगोष्ठियों में भाग।
2. अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं मे लेख, कविताएँ प्रकाशित।
3. आकाशवाणी से वार्ताएँ प्रसारित।

संप्रति : डी० लिट की उपाधि के लिए कार्यरत।